Samaj Vigyan Shodh Patrika

Vol. 2 No. XXXXI (2017-18)
ISSN 0973-7626
RNI: UPBIL/2005/16107
OCTOBER 2017 - MARCH 2018

भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था- एक परिदृश्य

डॉ0 हेमा राघव
(द्वारा– श्री हर्षवर्धन)
एम0ए0, पीएच0डी0
म0ज्यो0फुले0 रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

भारत एक लोकतांत्रिक, समाजवादी, पंथनिरपेक्ष गणराज्य है, जिसका संविधान विश्व का सबसे बड़ा संविधान है। भारतीय संघ व्यवस्था में अनेक देशों की उत्कृष्ट व्यवस्थाओं का समावेश है।[१]

हमारे यहाँ अनेक भाषाओं, विचारों और जीवन पद्धति के व्यक्ति हैं। व्यापक विविधताओं और संस्कृतियों के देश के लिए संसदीय प्रणाली ही उत्तम है। प्रणाली की उत्तमता के बाद भी क्या हम सफल हैं? क्या सफलता उस सीमा तक है, जिस सीमा तक जन-अपेक्षायें हैं? उत्तम संविधान और विधान के उपरांत भी वांछित सफलता न मिलने के कारणों की निरंतर खोज करना और परिवर्तन के लिए तैयार रहना आवश्यक है। संसदीय शासन की सफलता के लिए यह अपरिहार्य है कि विधानमण्डलों में ही नहीं, पंचायतों, नगरपालिकाओं सहित सभी जनतांत्रिक संस्थाओं में अच्छे और देशभक्त लोग निर्वाचित होकर आवें।

संविधान ने निर्वाचन आयोग को स्वतंत्र, संवैधानिक निकाय के रूप में स्थापित किया है। निर्वाचन आयोग निरंतर चुनाव सुधार के लिए कार्य भी कर रहा है। देश में राजनीतिक दलों के संरक्षण में नेता लोग विधियों से बचने के रास्ते खोज लेते हैं। धन, बल सहित मसल पावर का निर्वाचनों में प्रयोग आम हो गया है।[२] कालेजों के चुनावों तक में साधारण प्रत्याशी नहीं जीत रहा है। निर्वाचित पद वस्तुतः समाज सेवा का व्यवसाय हो गया है। निर्वाचनों का अपराधीकरण आज की बड़ी चुनौती है। राजनीति को व्यवसाय समझने वाले, और चाहे जिस प्रकार के साधनों का प्रयोग कर सफलता हासिल करने वाले राजनेता विधानमण्डल की कार्यप्रणाली में गहरी आस्था नहीं रखते हैं। अध्ययन का उनके पास वक्त ही नहीं है। विधान मण्डलों की संरचना को देखें, तो उसमें पत्रकार और अभिभाषक वर्गों की संख्या निरंतर घट रही है। जबकि व्यवसाय से समाजसेवियों की संख्या और कृषि से जुड़े व्यक्ति निरन्तर बढ़ रहे हैं। विधानमण्डलों के बदलते स्वरूप का प्रभाव उसकी कार्यप्रणाली पर साफ रूप में है।[३]

परिभाषाओं से लोकतंत्र के राजनीतिक स्वरूप का पता चलता है, किन्तु वास्तव में लोकतंत्र सरकार या शासन का स्वरूप ही नहीं है, वह जीवन का एक समग्र दर्शन है।

राजनीतिक दृष्टि से लोकतंत्र का अर्थ है बहुसंख्या का शासन। लोकतंत्र में सभी वयस्क स्त्री-पुरूषों को मताधिकार प्राप्त होता है और न्यायपालिका स्वाधीन होती है। लेकिन समय-समय पर चुनाव और सरकारी निर्णयों को प्रभावित करने के लिए दबाव गुटों को कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।[४]

सामाजिक दृष्टि से लोकतंत्र में ऊँच नीच व छोटे बड़े के भेदभाव को स्वीकार नहीं किया जाता है। लोकतंत्र की मान्यता है कि जाति, वंश, धर्म व

लिंगभेद के आधार पर मानव-मानव के बीच भेदभाव की दीवारे खड़ी न की जायें।

मानसिक पहलू का आशय यह है कि लोकतंत्र में हिंसा के स्थान पर तर्क, न्याय व बुद्धि की प्रधानता होती है। एक सच्चा लोकतंत्रीय मानव वह है, जो दूसरों के विचारों का सम्मान करे और विरोधियों के प्रति सम्मान का भाव रखे।

आर्थिक पहलू यह है कि सच्चे लोकतंत्र में आर्थिक शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है। एक लोकतंत्रीय देश के नागरिक को आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा व सांस्कृतिक विकास का अवसर प्राप्त होना चाहिए। ह्मैक्सी ने कहा है कि बींसवीं सदी में लोकतंत्र से तात्पर्य केवल एक 'राजनीतिक सूत्र' या समाज के एक विशिष्ट ढांचे से नहीं है, वह एक विशिष्ट प्रकार की जीवन पद्धति का नाम है, जिसके बारे में हमारा यह विश्वास है कि मानव जाति के लिए उससे श्रेष्ठतर और कोई पद्धति नहीं हो सकती है।[5]

26 जनवरी 1950 को भारत एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य के रूप में विश्व के मानचित्र पर स्थापित हुआ। ब्रिटिश उपनिवेश काल में भी भारत में प्रजातंत्र के अंकुर थे। डॉ. सुभाष कश्यप भारतीय प्रजातंत्र को लगभग 5000 वर्ष प्राचीन मानते हैं। उनके अनुसार- ''भारत में लोकतंत्र का इतिहास बहुत पुराना है। उसकी जड़ें ईसा से कम से कम 3000 वर्ष पूर्व वैदिक काल तक जाती हैं। प्रतिनिधिक संस्थाओं और लोकतांत्रिक सिद्धांतों का प्रथम निरूपण ऋग्वेद और अथर्ववेद में मिलता है, और बाद में महाभारत, शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र, बौद्ध साहित्य, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि में।''[6]

''यूनान के प्रथम लोकतांत्रिक नगर राज्यों से कितनी ही सदियों पूर्ण, भारत में गणराज्यों का जाल बिछा हुआ था, कह सकते हैं कि भारत ही लोकतंत्र का पालना रहा है।''[7]

डॉ. उर्मिला सिंह लिखती हैं - ''जिस समय यूनान अपनी क्षमता का विकास कर रहा था, और वहाँ के नगर राज्यों के राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातंत्र के परीक्षण चल रहे थे, उस समय वैदिककालीन भारत में स्वतंत्रता व समानता के आधार पर समान नागरिकता प्रदान करने वाले प्रजातांत्रिक राज्य स्थापित हो चुके थे। जितना स्वस्थ राजनीतिक चिंतन भारत में फला-फूला, उतना विश्व के किसी भी राष्ट्र में संभव नहीं हुआ।''[8]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत में प्रजातंत्र का बीज वैदिककाल में बोया गया था, उत्तरवैदिक काल में अंकुरित हुआ और आज एक वट वृक्ष के रूप में अस्तित्व में है।

''लोकतंत्र राजनीति विज्ञान की एक बहुआयामी अवधारणा है। यह शासन का एक प्रकार होने के साथ-साथ सामाजिक शक्ति, नैतिक शक्ति एवं राजनीतिक आदर्श भी है।''[9]

इसी प्रकार अब्राहिम लिंकन के अनुसार- ''लोकतंत्र जनता की, जनता द्वारा, और जनता के लिए सरकार है।''[10]

शाब्दिक रूप से भी यदि हम लोकतंत्र के भाव को समझें, तो लोकतंत्र, आंग्ल भाषा के Democracy का हिन्दी रूपान्तरण है, जो यूनानी भाषा के दो शब्दों Democe और Kratros से मिलकर बना है। जो अपने आप में क्रमशः जनता और शक्ति समाहित किए हुए है, जिसका अभिप्राय एक ऐसी शासन प्रणाली से है, जिसमें शासन की शक्ति जनता के हाथ में होती है। वह शक्ति का संचालन स्वयं या अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है, अर्थात् ''लोकतंत्र शासन का वह प्रकार है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की सहभागिता होती है।''[11]

प्रत्येक संविधान शासन के कतिपय विशेष सिद्धांतों पर लागू होता है। साथ ही उसका रूप देश की भौगोलिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व अन्य दशाओं से प्रभावित होता है। फलतः प्रत्येक देश क संविधान की निजी विशेषतायें होती हैं। भारतीय संविधान की भी जो विशेषता है, उसकी चर्चा भी यहाँ की जायेगी।

भारतीय संविधान को देखकर पहला विचार जो मन में आता है, वह यह है कि यह बहुत लम्बा प्रलेख है, जिसमें 395 अनु., 12 अनुसूचियाँ, 400 पृष्ठ हैं। आइवर जेनिंग्स ने कहा है कि ''यह संसार का सबसे

लम्बा विस्तृत संविधान है। इसके बड़े होने का कारण है देश की विशालता, उसके सामने आयी विशिष्ट समस्यायें तथा देश में विभाजक प्रवृत्तियाँ, जो अंग्रेजों के दीर्घकालीन राज्य से पैदा हुई हैं। किसी षड्यंत्रकारी राजनीतिज्ञ द्वारा उसका दुरुपयोग न हो, इस दृष्टि से मौलिक अधिकार, नीति निर्देशक तत्व इत्यादि दिए गये हैं। न केवल संघ के प्रशासन का ब्यौरा है। अपितु राज्यों के प्रशासन विषयों का बंटवारा, संघ तथा राज्य संबंध, अंतर्राज्यीय सम्बंध, जम्मू कश्मीर, नागालैण्ड, सिक्किम आदि के लिए विशेष प्रावधान दिए गये हैं।''[१२]

भारतीय संविधान लिखित एवं निर्मित संविधान है। शासन से सम्बंधित मौलिक नियमों को संविधान सभा द्वारा एक लेख में लिपिबद्ध किया गया, जिसमें 395 धारायें, 22 भाग, 12 अनुसूचियाँ हैं। लेकिन कोई भी संविधान न तो पूर्णत: लिखित हो सकता, न पूर्णत: अलिखित ही। एक लिखित संविधान का नियम होता है, जिसका आधार अपने आप ऐतिहासिक गतिविधियों द्वारा होता है। इन नियमों को सदियों एवं परम्पराओं के रूप में संविधान का अंश मान लिया जाता है।[१३]

संविधान भारत में एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य की स्थापना करता है। संविधान की प्रस्तावना से स्पष्ट होता है कि भारत अब ब्रिटिश सत्ता के अधीन नहीं है, भारत पूर्ण रूप से स्वाधीन है। उसमें गणराज्य एवं लोकतंत्रात्मक सरकार की स्थापना हो गयी है। भारतीय जनता की इच्छा ही सर्वोच्च है, और अवशिष्ट शक्ति उसमें ही निहित है। संविधान के अनुसार शासन का उद्देश्य लोकहित है। लोगों को भाषण एवं धर्म की स्वतंत्रता तथा प्रत्येक प्रकार की समानता एवं मताधिकार बिना किसी भेदभाव के प्राप्त हों। लोकतांत्रिक गणराज्य से ध्वनि निकलती है कि राज्य की कार्यपालिका का प्रथम निर्वाचन होगा, और समस्त देश में लोकतांत्रिक संस्थायें स्थापित करेगा।

भारत एक समाजवादी धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र है। धर्मनिरपेक्ष समाजवादी शब्द 1976 में 42वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया था।[१४]

संविधान की आत्मा धर्मनिरपेक्ष है। इसके मूलभूत अधिकारों में धर्म के आधार पर भेदभाव-रोक, आस्था की आजादी समेत धार्मिक आजादी, धर्म का प्रचार और व्यवहार, कुछ शैक्षणिक संस्थाओं में धर्म, पूजा या धार्मिक उपदेश में हिस्सा लेना शामिल हैं।[१५]

भारत राज्यों का संघ है, पर भारतीय संघ की विशेषता है कि इसमें राज्य को संघ से निकलने का अधिकार नहीं दिया गया और न ही संयुक्त राज्य अमेरिका की भांति राज्यों के अपने संविधान हैं। भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में संघ शासन के लगभग सभी लक्षण विद्यमान हैं।

भारतीय शासन में दोहरी नागरिकता की व्यवस्था नहीं है, एवं भारतीय नागरिक दोनों सरकारों के प्रति निष्ठा रखता है। भारत का संविधान एक सर्वाधिक व्यापक दस्तावेज है।[१६] यह अनेक दृष्टियों से अनूठा है। यह अनम्य तथा नम्य, परिसंघीय तथा एकात्मक और अध्यक्षीय तथा संसदीय रूपों का सम्मिश्रण है। इसमें प्रयास किया गया है कि व्यक्तियों के मूल अधिकारों और दूसरी ओर जनता के सामाजिक, आर्थिक हितों तथा राज्य की सुरक्षा के बीच संतुलन बना रहे।

वर्तमान में इंग्लैण्ड, अमेरिका, कनाडा व भारत जैसे देशों में सरकार का जो स्वरूप विकसित हुआ है, वह लोकतांत्रिक है, किन्तु यह व्यवस्था व्यवहार में अपने लक्ष्य को पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं कर पा रही है। लोकतंत्र में विभिन्न आदर्श परिभाषाओं के विश्लेषण से यह कटु सत्य सामने आता है कि यह उतनी सरलीकृत, निर्विकार व्यवस्था नहीं है, जितनी कि सामान्यत: समझी जाती है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में तो असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि हमने लोकतांत्रिक व्यवस्था से व्यापक रूप से कोई सीख नहीं ली है, अन्यथा उत्तरोत्तर इतने वृहद स्तर पर त्रुटियां नहीं करते। सर्वप्रथम तो हम लोकतंत्र की उच्च आदर्शो पर आधारित अमूर्त संकल्पना को मूर्त रूप देने में विफल रहे हैं। दुर्भाग्यवश, वर्तमान परिदृश्य में हमारा लोकतंत्र एक ऐसी अट्टालिका की तरह हो गया है, जिसमें प्रथम तल व द्वितीय तल तो हैं, किन्तु भूतल गायब है। हमारे लोकतंत्र की दशा नि:संदेह गहन चिंतन, मनन एवं विचार मंथन का विषय है। भारतीय

लोकतंत्र को आज सबसे अधिक क्षति, राजनेताओं की असीम सत्तालोलुपता, नौकरशाही की निरंकुशता, निर्वाचन प्रणाली पर हावी धनबल और बाहुबल तथा जातीय व धार्मिक उन्माद ने पहुँचाई है।[१७]

लोकतांत्रिक व्यवस्था में विवाद व बहस, लोकतंत्र की कमजोरियों के नहीं, बल्कि उसकी शक्ति के स्रोत हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हर समय हर तरफ टकराव ही टकराव हो, संघर्ष हो और मर्यादाओं की सभी सीमायें टूट जायें। भारत में व्यक्तिगत अहंकार और सत्तालोलुपता के कारण दलों के विभाजन एवं टूटने की प्रक्रिया इस सीमा तक जा पहुँची है कि थोड़े से ही दल अपनी एकजुटता बनाये रख सके। ये दल भी सत्ता की कुटिल चालों में शामिल हैं। लोकतंत्र मात्र शासन व्यवस्था नहीं है बल्कि एक जीवन प्रणाली है, जिसमें नैतिकता, दृढ़ता, सहिष्णुता और समन्वयता को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। फिर ऐसे क्या कारण हैं कि हमारा लोकतंत्र बौद्धिक शून्यता में है। क्यों आज की राजनीति माफियाओं, दल बदलुओं और अपराधों की राजनीति हो गयी है? देश में केवल कुछ लोग यह तय कर रहे हैं कि लोकतंत्र कैसे आये? वह किस प्रकार का हो? थोड़े से लोग ही यह विश्लेषण कर रहे हैं कि व्यवस्था कैसे सुधारी जाये और परिवर्तन किस ओर से लाये जाये।[१८]

एक अरब से अधिक की जनसंख्या वाले देश में जब कुछ लोग ही सब कुछ तय कर देना चाहते हैं, तब यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि शेष लोगों की इसमें भूमिका क्या होगी? अर्थात् यदि शेष बचे खुचे लोगों के इस तंत्र व व्यवस्था से संवाद करने तक के अवसर छीन लिए गये हों, तब हम कैसे कह सकते हैं कि यहाँ लोकतंत्र है।[१९]

लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोक की स्थिति निरन्तर बद से बदतर हुई है, आम आदमी की बुनियादी जरूरतें रोटी, कपड़ा, और मकान तक पूरी नहीं हो पा रही हैं। भारतीय लोकतंत्र की भावना तादात्म्य संविधान के प्रावधानों और कानून के शासन से होना चाहिए। इसमें मुख्य तत्व है नैतिकता। लेकिन सत्य और नैतिकता भारतीय राजनीतिक वर्ग के लिए अछूत हो चुके हैं। क्षेत्रीय दलों का बढ़ता प्रभुत्व भी लोकतंत्र के लिए हानिप्रद है। क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्र विशेष के हितों को राष्ट्रीय हितों के ऊपर प्राथमिकता देते हैं।

कर्नाटक और तमिलनाडु के मध्य कावेरी जल विवाद इसका उदाहरण है। प्रजातंत्र इस दृढ़ विश्वास की आधारशिला पर स्थित है कि सामान्य मनुष्य में भी असामान्य कार्य करने की संभावनायें निहित हैं। अवसरों की समानता है, लेकिन वर्तमान में अवसर भी सीमित वर्ग के पास संकेन्द्रित होकर रह गये हैं। बूथ कैपचरिंग, फर्जी मतदान, अंधाधुंध प्रचार-व्यय आदि कुछ ऐसे कारक हैं, जो वर्ग विशेष को प्रभुत्व का स्थापन कराते है। 90 प्रतिशत प्रत्याशी निर्वाचन आयोग द्वारा निर्धारित अधिकतम चुनावी खर्च सीमाओं का खुलेआम अतिक्रमण करते हैं। लोकतंत्र का चतुर्थ स्तम्भ अर्थात् प्रेस की स्वतंत्रता एवं निष्पक्षता भी अंशतः बाधित हो रही है। प्रथकता की प्रवृत्तियाँ सिर उठा रही हैं। इस प्रकार वर्तमान में भारतीय लोकतंत्र के सम्मुख गम्भीर चुनौतियाँ हैं, जिन्होंने इसके अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। अतः लोकतंत्र के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करना है, तो इन चुनौतियों को दूर करना आवश्यक है।[२०]

भारत में लोकसभा के आम चुनाव लगातार परिपक्वता का प्रदर्शन कर रहे हैं। जनता ने कभी कांग्रेस को, तो कभी जनता पार्टी, कभी जनता दल, कभी गठबंधन, तथा सन् 2014 में भारतीय जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत देते हुए राजग को बहुमत से सदन में पहुंचाया है। वर्तमान परिवेश में मिलीजुली सरकार के जो दोष व्यवहार में दिखाई देते हैं, उनसे भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था को मुक्ति प्राप्त हुई है। आशा की जानी चाहिए कि भारतीय लोकतंत्र के समक्ष भ्रष्टाचार, अलगाववाद, प्रथक्करण, जातिवाद, राजनीतिक अस्थिरता, आतंकवाद, बेरोजगारी तथा पर्यावरण प्रदूषण जैसी विभिन्न विसंगतियों के परिप्रेक्ष्य में एक नये युग का सृजन होगा।

: संदर्भ सूची :

1. भारत में कनाडा से संघीय व्यवस्था, दक्षिण

अफ्रीका से संशोधन, आयरलैण्ड से निदेशक तत्व, अमेरिका से मौलिक अधिकार आदि को आत्मसात किया गया है।

2. संसदीय लोकतंत्र विशेषांक, सामाजिक विज्ञानों की हिन्दी/अंग्रेजी शोध पत्रिका, 2004
3. भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका, सम्पा0 संजीव कुमार शर्मा, जनवरी/जून 2009
4. डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर की शोध पत्रिका, 2009
5. विरकेश्वर प्रसाद सिंह, भारतीय शासन प्रणाली, नई दिल्ली 1970
6. बी.एस.भार्गव, आधुनिक भारत, शक्ति प्रकाशन, मेरठ
7. विपिन चन्द्र, आजादी के बाद का भारत, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, नई दिल्ली
8. वी.एस.भार्गव, आधुनिक भारत, शक्ति प्रकाशन, मेरठ, पृ. 429-431
9. सुभाष कश्यप, हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया 2011
10. संसदीय लोकतंत्र विशेषांक, ए जर्नल.....वही.... 2004
11. कौल माहेश्वर नाथ शकधर, श्यामलाल, संसदीय प्रणाली तथा व्यवहार, हिन्दी अनुवाद लोकसभाध्यक्ष हुकुमसिंह द्वारा लिखित प्रस्तावना के अंश, 2006, Voll No. 2
12. अरुण शौरी, पार्लियामेंट्री सिस्टम
13. ए.जर्नल ऑफ एशिया फॉर डेमोक्रेसी एण्ड डवलपमेंट, सामाजिक विज्ञानों की द्विभाषिक शोध पत्रिका, मार्च 2007, पृ. 65,67,69
14. धर्मचन्द्र जैन, भारतीय लोकतंत्र, पृ. 43
15. मधु लिमये, समस्यायें एवं विकल्प, 1982
16. टाइम्स ऑफ इण्डिया, 9 जून, 1991
17. गणेश दत्त, संसदीय धारा, पृ. 15
18. नव भारत, दैनिक समाचार पत्र, 2 अक्टूबर, 2003
19. भारतीय संविधान अनु. 105 एवं 194
20. Jennings, Sir Ivor - Cabinet Government. pg. 472

Samaj Vigyan Shodh Patrika

Vol. 2 No. XXXXI (2017-18)
ISSN 0973-7626
RNI: UPBIL/2005/16107
OCTOBER 2017 - MARCH 2018

लाला लाजपतराय के राजनीतिक विचार

डॉ. देवेश कुमार
प्रवक्ता- राजनीति विज्ञान विभाग
डब्ल्यू. टी. एम. डिग्री कॉलेज, फत्तेपुर माफी, जिला- अमरोहा

लाला लाजपतराय के विचार क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के उद्घोषक हैं। वे न तो पूरी तरह से गांधी जी की असहयोगात्मक नीति से आबद्ध थे और न ही विदेशी शासकों के द्वारा प्रदत्त 'ऊँट के मुंह में जीरा' से तृप्ति पा लेने वाले कांग्रेस की भिक्षावृत्ति सरीखी भावनाओं वाले नरम दल के लिए वचनबद्ध थे। उनका विचार था कि- ''विदेशी शासकों के प्रति असहयोग करना ही पराधीन लोगों के लिए उचित मार्ग है। हम न तो सहयोग के लिए वचनबद्ध हैं ओर न ही असहयोग के लिए। जो भी इन परिस्थितियों में हमारे लिए सबसे अधिक क्रियात्मक, श्रेष्ठतम तथा संभव है, वह हमें करना चाहिए।''[1]

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार उग्रवाद के रास्ते पर चलकर ही पराधीनता से मुक्ति संभव हो सकती थी। इसी के लिए उन्होंने अपने जीवन भर कार्य किया और अंत में इसी सिद्धांत पर अपने आप को बलिदान भी कर दिया। उनका बलिदान विशुद्ध रूप से ऐसा क्रान्तिकारी बलिदान था, जिसने भारतीय युवा-मानस में वास्तविक रूप से क्रान्ति की फसल को पैदा कर दिया था, अन्यथा ''लाला जी न तो एक दार्शनिक थे तथा न ही राजनीतिक सिद्धांतवादी। राजा राममोहन राय के समान समाज सुधारक की श्रेणी में भी वे नहीं आते। स्वामी दयानन्द और विवेकानन्द के समान वह किसी नव चिन्तनधारा के संस्थापक भी नहीं हैं। फिर भी उनके विषय में यह कहना कि उनके व्यक्तित्व में महान विचारक और मानवता के मुक्तिधारक की विशेषताएं मिलती हैं- मात्र आनुमानिक महत्व का ही कथन नहीं है।''[2]

लाला जी की वैचारिकता के केन्द्र में वह दीन-हीन मनुष्य था, जो विदेशी शसकों के द्वारा परधीनता के गहनतम अंधियारे गटर में पड़ा हुआ बिलबिला रहा था। उसे कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। उसकी मुक्ति के निमित्त लाजपतराय राजनीतिक भी थे, सामाजिक भी थे और धार्मिक भी। उनके चिंतन पर स्वामी दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का गहरा प्रभाव था। इसी प्रभाव के द्वारा उनमें राष्ट्रवाद और देशभक्ति की भावना का संचरण हुआ था। ''उनके राजनीतिक चिंतन और जीवन प्रणाली में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित स्वराज्य के विचारों के साथ-साथ इटली के क्रांतिकारी 'मैजिनी' का भी गहरा प्रभाव था। उन्होंने मैजिनी, गैरीबाल्ड तथा कैबूर के जीवन तथा कार्यों का विशद अध्ययन किया था और उनसे अपने राजनीतिक जीवन का कार्य निर्धारित किया था। इंग्लैण्ड के समाजवादी विचारक हाइडमैन के संपर्क से ही उनके विचारों में समाजवाद अवतरित हुआ था। उनके तेवरों में तिलक भी बोल उठते थे।''[3]

लाला लाजपतराय जितने बड़े समाज सुधारक और राष्ट्रवादी नेता थे, उतने ही बड़े स्वाधीनता के निर्भीक योद्धा भी थे। तिलक के समान ही लाला जी भी बड़ी निडरता के साथ नवयुवकों को साहस, उत्साह और

देशप्रेम का पाठ पढ़ाया करते थे। इन दोनों के लिए स्वाधीनता ही प्रथम चीज थी। तिलक की ही तरह लाला जी के लिए भी स्वाधीनता से अधिक किसी भी वस्तु का मूल्य नहीं था। स्यालकोट में सन् 1907 में उन्होंने कहा था कि- ''दुनिया का कानून है कि शासक और शासित तथा गुलाम एवं मालिक में न्याय नहीं होता है। शासक अथवा मालिक जो करता है, वह बात चाहें गलत हो अथवा ठीक, पर हमारे कितने ही स्थानों में 'राजा करे सो न्याय' की कहावत प्रसिद्ध है। स्वाधीनता संसार में सबसे बड़ी चीज है। संसार में वही न्याय प्राप्त कर सकता है, जिसे अपने अफसरों को रखने और निकालने का अधिकार प्राप्त हो। जब तक यह अधिकार प्राप्त नहीं होगा, तब तक न्याय की आशा व्यर्थ है।''[4] लाला जी के लिए 'स्वराज्य' तथा 'स्वाधीनता' अन्तिम लक्ष्य थे। उनका मानना था कि स्वराज्य का अर्थ है अपने हाथों और अपनी बुद्धि व पौरुष से अपनी प्रजा के हित चलाया जाए। दूसरे के द्वारा चाहे कितनी भी सुख-सुविधाएं प्रदान कर दी जाएं, लेकिन वह इसलिए स्वराज्य नहीं कहा जा सकता कि उसमें स्वत्व का सर्वथा अभाव रहता है और स्वत्व नामक तत्व ही वह पदार्थ है, जो किसी भी देश के निवासियों में आपसी तालमेल और अपनत्व को उत्पन्न करता है, जो शासक और प्रजा के मध्य एक अनकहे रिश्ते को भी बनाये रखता है। उदाहरण के लिए देखा जा सकता है कि अंग्रेज किसी भी तरह भारतीय जनता के साथ आत्मीयता का संबन्ध कायम नही कर पाये और न ही कभी भारत की जनता ने उन्हें हृदय से कभी अपना शासक स्वीकार किया। सिर्फ विवशतावश पराधीनता के कारण भारत के लोग अंग्रेजों को सह सके। इतना ही नहीं, सल्तनत काल में शासकों का आत्मिक लगाव इस्लाम के अनुयायियों के प्रति तो बना रहा, लेकिन हिन्दू जनता के साथ वे उस लगाव का परिचय नहीं दे सके। यहां तक, कि अकबर सरीखे दीने-इलाही के संस्थापक के रूप में राजनीतिक स्थिरता के निमित्त हिन्दुओं के प्रति अपनी निरपेक्ष नीति की नुमाइशभर करते रहे हैं। इसी प्रकार- ''लाला लाजपतराय ने भी स्वराज्य की मांग एवं स्वतंत्रता को अपना प्रमुख लक्ष्य माना था। तिलक के ही समान लाला लाजपतराय का भी यही कहना था कि स्वराज्य इसी में है कि जनता को अपनी इच्छानुसार शासन चलाने का अधिकार मिले। यदि लाला जी ने स्वराज्य को स्पष्टतः अधिकार के रूप में नहीं मांगा, तो सन् 1905 के बनारस कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने यह अवश्य कहा था कि यदि भारत आजादी प्राप्त करना चाहता है, तो उसे भिक्षावृत्ति की प्रवृत्ति का परित्याग करके अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा।''[5] भारतीयों में राजनीतिक सोच भरने के लिए उन्होंने सदैव अपने प्रयत्न जारी रखे हैं। यहां तक कि उदारवादियों के बारे में उन्होंने कहा था कि ''एक अंग्रेज, भिखारी को घृणा की दृष्टि से देखता है। भिखारी है ही इस योग्य कि उससे घृणा की जाए। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम अंग्रेजों को बता दें कि हम भिखारी नहीं हैं।''[6]

लाला लाजपतराय अतीव साहसी और क्रंतिकारी प्रवृत्ति के कट्टर राष्ट्रवादी भारतीय थे। उनके राष्ट्रवादी विचारों का विश्लेषण करते हुए डॉ0 वी0पी0 वर्मा लिखते हैं- ''लाला लाजपतराय वीर योद्धा तथा पक्के राष्ट्रवादी थे। किंतु वे आक्रामक क्रांतिकारी ढंग के राष्ट्रवादी नहीं थे। और न वे अनिश्चित, अस्पष्ट, विश्वराज्यवाद के समर्थक थे; बल्कि उसको वे स्वार्थ का दूसरा नाम कहते तथा उसका माखौल उड़ाया करते थे। उनकी राष्ट्रवाद की धारणा उन्नीसवीं शताब्दी के इटली के राष्ट्रवादियों की धारणा से मिलती-जुलती थी।[7] वे इस सिद्धांत को मानते थे कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने अपने आदर्शों को निश्चित और कार्यान्वित करने का मूल अधिकार है। उसके इस अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि भारत को शक्तिशाली स्वतंत्र राजनीतिक जीवन का निर्माण करके अपने को सबल बनाना चाहिए और यह उसका अधिकार है। शासितों की सम्मति किसी सरकार का एकमात्र तर्कसंगत तथा वैध आधार है।''[8]

भारत ब्रिटिशों का उपनिवेश था और उनके अधीन पराधीनता का जीवन व्यतीत कर रहा था। लाला जी का मानना था कि भारत पर उसका अपना ही यह अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए कि वह अपना शासक स्वयं बने। अपने बारे में सोचने का सभी का मौलिक अधिकार है। उनका मानना था कि ऐसा कोई कारण नहीं बनता कि प्रत्येक देश को अपने सिद्धांतों और आदर्शों को स्थापित करके उनके अनुसार आचरण-व्यवहार करने का

नैसर्गिक अधिकार है। बाद में कांग्रेस ने सन् 1929 में जो पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव परित किया था, उसकी प्रेरणा लाजपतराय के इन्ही विचारों पर आधारित प्रतीत होती है। कांग्रेस ने कहा था कि- ''हम भारतीय प्रजाजन भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते हैं कि यदि कोई सरकार ये अधिकार छीन लेती है और प्रजा को सताती है, तो प्रजा को उस सरकार को बदल देने या मिटा देने का अधिकार है। ब्रिटिश सरकार ने आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से भारतवर्ष का नाश कर दिया है। अतः हमारा विश्वास है कि भारतवर्ष को अंग्रेजों से संबन्ध विच्छेद करके पूर्ण स्वराज्य या स्वाधीनता प्रदान कर देनी चाहिए।''[9]

इस बात में कोई दोराय नहीं है कि भारतीय समाज अनेकानेक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के कारण अपनी गत्यात्मकता को खोकर जड़प्राय हो गया था। इसके पीछे लम्बे समय तक झेली जाने वाली पराधीनता थी और उससे भी पहले समाज के उच्च वर्गों, विशेषकर देशी राजाओं की व्यक्तिगत स्वार्थ-साधना के लिए दूरदर्शिता और विवेक को खो बैठना था। बहुत सीमा तक इस जड़ता के लिए उस काल की चेतनशून्यता भी थी, जब भारत अपने विकास की संसार भर में ऊँचाई पर बैठा था और उस शांतिकाल में तमाम चेतना को खोकर बस शांति भोग कर रहा था। गुप्तकाल और उसके उपरांत, विशेषकर अशोक के शासन काल के भारत में बोए नये बीज थे ये सब। इसी जड़ता का लाभ विदेशी लुटेरे उठाते रहे। इनमें अधिकांश तो यहीं के निवासी होकर इसी की संस्कृति में विलीन हो गये। इस्लाम के अनुयायी यहां के होकर भी यहां नहीं घुल-मिल पाए और भारतीय जड़ता का लाभ उठाकर अपनी विस्तारवादी नीति के कारण अन्य समाज को चोट पहुंचाते रहे। लेकिन वे भारत को लूटकर कहीं ले नहीं गये। जबकि अग्रेजों ने लूटकर अपने देश इंग्लिस्तान को मालामाल कर दिया। ये भारत को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक और धार्मिक रूप से लूट रहे थे और भारतीय रूढ़ियों को ओर भी हवा देकर उनमें पारस्परिक फूट डालकर अपना उल्लू सीधा कर रहे थे। उनके तमाम प्रयास भारतीयों में निराशा भरने के बाद अपनी राजनीतिक सुदृढ़ता पर आधारित थे। इस कार्य में तमाम पाश्चात्य जगत इंग्लैण्ड का साथ दे रहा था। इसका उदाहरण अमरीका की मिस मेयो द्वारा लिखी पुस्तक मदर इण्डिया को कहा जा सकता है, जिसमें कहा गया था कि ''भारतीयों में बड़ी कुरीतियां और भयंकर जातीय दोष हैं और वे स्वतंत्रता प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं।''[10] इसका करारा जवाब देते हुए लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'अनहैप्पी इण्डिया' में बड़े विस्तार से बताया था कि ''भारत की सब बुराईयों और दोषों का मूल कारण अंग्रेजों का विदेशी शासन है।''[11] इस शासन द्वारा भारत के आर्थिक व राजनीतिक शोषण को उन्होंने बड़े पुष्ट प्रमाणों और उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किया है।

लाल लाजपतराय विदेशी शासन के प्रबल विरोधी थे। उनकी देशभक्ति उनके उन विचारों में समाहित है, जो उनके द्वारा लिखी पुस्तकों में हैं और विभिन्न अवसरों पर दिये गये भाषणों में व्यक्त हुए हैं। उनकी मान्यता थी कि भारतीयों में उच्च कोटि की सार्वजनिक कर्तव्य की भावना का विकास हो, तो वे सच्चे देशभक्त बनेंगे। इसका अर्थ यह था कि लाला लाजपतराय ने भारत के लोगों से उनके अपने हितों की तुलना में राष्ट्रीय हितों को महत्व देने पर बल दिया है। इसीलिए- ''सन् 1920 में राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए उन्होंने भारतीय जनता की शैक्षणिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति पर बड़ा बल दिया था। उनके इस दृष्टिकोण में आर्यसमाज और उसके नियमों का स्पष्ट प्रभाव था, जिनमें यह कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति से संतुष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।''[12]

चूंकि लाला जी आर्यसमाज की संतान थे, इसलिए उनके तमाम विचार आर्यसमाज की मान्यताओं से अनुप्राणित होने स्वभाविक हैं। आर्यसमाज प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक संस्था नहीं थी, किंतु उसके कार्यकलाप अन्ततोगत्वा स्वाभिमान, स्वाधीनता और स्वत्व के उत्थान में प्रेरक होने के कारण स्वतः ही राजनीतिक रूप धारण कर लेते हैं। इसी से आर्यसमाज का जो भी सिपाही था, वह स्वाधीनता का समर लड़ने वाला सिपाही था। इसका पता उस घटना से चलता है, जो सन् 1907 में पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर ने प्रतिष्ठित आर्यसमाजियों के एक प्रतिनिधि मण्डल

से उस समय कही थी, जब वह मण्डल पंजाब में हुए राजनीतिक और कृषि विषयक उपद्रवों में अपनी संलिप्तता न होने की बात के प्रति गवर्नर को आश्वस्त करने गया था। उस समय आर्यसमाज के लिए जो शब्द कहे गये थे, निश्चित रूप से वे न केवल आर्यसमाज, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से लाला लाजपतराय को इंगित करते हुए कहे गये थे; क्योंकि लाला जी के निर्वासन के पीछे पंजाब के उपद्रवों को भी ध्यान में रखा गया था। गवर्नर ने कहा था कि ''... ..... उसके अधिकारियों की सूचना के अनुसार जहां भी आर्यसमाजी हैं, वहीं पर उपद्रव होते हैं तथा राजनीतिक अशांति फैल जाती है।''[13]

इस कथन के संदर्भ में लाला जी ने कहा था कि ''हमें आश्चर्य है कि ऐसा कहकर गवर्नर ने आर्यसमाज के कार्य तथा उसकी भावना को सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक प्रशस्ति प्रदान की है और यह प्रशंसापूर्ण सम्मति उससे कहीं अधिक है, जिसकी इच्छा इस संस्था के प्रशंसित संस्थापक ने चाही होगी। मानसिक अशांति बड़ी पावन होती है, क्योंकि अशांति के बिना प्रगति भी नहीं होती, परन्तु न्याय की बात तो यह है कि भारत में राजनीतिक हलचल का एकमात्र कारण आर्यसमाज नहीं है।''[14]

लाला लाजपतराय ने लिखा था कि ''आर्यसमाज को निश्चय ही उन परिस्थितियों का तार्किक परिणाम समझा जा सकता है, जो पश्चिम से भारत में आयातित की गयी थीं। अतः यदि भारत में जीवन की आधुनिक परिस्थितियों के अनिवार्य फलस्वरूप असंतोष का भाव उत्पन्न हुआ और आर्यसमाज ने उसे बढ़ाने या परिवर्धित करने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया, तो उसके लिए शर्मिंदा होने या पश्चाताप करने का कोई कारण नहीं है। कोई भी इससे इंकार नहीं कर सकता और न करना चाहिए कि आर्यसमाज राष्ट्रीय भावना की अभिवृद्धि करने में एक प्रबल शक्ति रहा है। आर्यसमाज का उद्देश्य लोगों के जीवन तथा चिंतन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना है। वैदिक ज्ञान तथा वैदिक जीवन के मूलाधारों पर एक नवीन राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण उसका लक्ष्य है। हिन्दू समाज की विद्यमान परिस्थितियों के प्रति असंतोष उत्पन्न करना उसके लिए जरूरी था। अधिक अच्छे चिंतन और उच्चतर जीवन की प्राप्ति की तीव्र इच्छा जगाना भी आवश्यक था तथा इसी तीव्र इच्छा के परिणामस्वरूप असंतोष उत्पन्न होना तो स्वाभाविक ही था।''[15]

इस प्रकार लाला लाजपतराय आर्यसमाज के मार्ग पर चलते हुए भारतीयों में नयी वैचारिकता का रोपण कर रहे थे। इन नये विचारों ने एक तरफ तो भारतीय जनमानस से उन बुराईयों को मिटाने का कार्य किया, जिनके कारण भारतीय शौर्य और प्रतिभा कुण्ठित हो रही थी, और दूसरी तरफ इस नयी विचारधारा ने भारत के लोगों को उनकी वास्तविक स्थिति से परिचित कराकर उनमें बदलाव की तीव्र उत्कंठा भर दी। यही उत्कंठा भारत के स्वतंत्रता संग्राम में शक्तिशाली ऊर्जा बनकर प्रकट हो रही थी, जिससे भारतीय जनमानस प्रबल रूप से क्षण-क्षण बलशाली होता जा रहा था और उसके विरोध से पराधीनता की तमाम श्रृंखलाएं खण्डित होती जा रही थीं। इससे भारत के अतीत की गौरवगाथाएं प्रकाशित होकर विश्व के सामने नये कीर्तिमान स्थापित कर रही थीं। भारत के पुरातन गौरव को प्रकाशित करके भारतीय जनमानस का प्रक्षालन आर्यसमाज भी कर रहा था और महर्षि दयानन्द सरस्वती का मानस-पुत्र लाला लाजपतराय भी ऐसी ही क्रांति की रणभेरी कदम- कदम पर फूंक रहा था। उन्होंने लिखा था-

''पुरातन भारत के गौरव और गरिमा को पुनः स्मृत करते हुए ही आर्यसमाज ने अपना कार्य आरंभ किया तथा उसने हिन्दुओं को बताया कि वेदों और शास्त्रों के इस देश के लिए यह उचित नहीं है कि वह केवल यूरोपियन साहित्य तथा यूरोपियन जीवन पद्धति का मात्र आलोचक अथवा अनुकरणकर्ता बनकर अपने 'स्व' को लुप्त कर ले। ..... साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि केवल शांति, निष्क्रियता, समर्पणभाव तथा आज्ञाकारिता ही 'राष्ट्रीय चरित्र' का निर्माण नहीं करते, वरन् शक्ति, कार्य को आरम्भ करने में उत्साह, उत्तरदायित्व की भावना तथा विद्रोह की शक्ति भी आवश्यक होती है।''[16]

इस प्रकार लाला लाजपतराय भारतीयों की तत्कालीन दुर्व्यवस्था का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन को ही समझते थे और उनकी यह समझ पूरी तरह सत्यता के साथ थी। वे अंग्रेजों द्वारा भारत पर कब्जे में कहीं भी ऐसा कोई कारण नहीं समझते थे, जिसे राजनीतिक सत्ता की प्राप्ति मान लिया जाए। वे राष्ट्रीयता को पोषित करने के लिए

बलिदानी रक्त को आवश्यक तत्व मानते थे। उन्होंने स्वराज्य प्राप्ति का एकमात्र रास्ता स्वशासन-प्राप्ति बताया और उसकी प्राप्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। विदेशी शासकों का विरोध उन्होंने निडरता के साथ किया, और यही निडरता उन्हें उग्रवाद का समर्थक बना देती है। उनका कहना था कि- ''अंग्रेजों ने भारत को अपनी सैनिक शक्ति या तलवार के बल से नहीं, अपितु कूटनीति और धोखाधड़ी से जीता है।''[17]

यहां एक बात का उल्लेख करना कदाचित समीचीन ही होगा कि जहां कांग्रेस का उदारवादी दल ब्रिटिश शासकों द्वारा की जा रही ज्यादतियों और शोषण का खुलकर बयान करने से घबराता और कतराता था तथा इसके स्थान पर चुपचाप विदेशी शासकों से सुविधाओं की भिक्षा सरीखी मांग प्रस्तुत करता था, वहीं लाला लाजपतराय अपने अधिकारों को मांगने के स्थान पर छीन लेने के समर्थक थे। जहां उदारवादी ब्रिटिश, न्याय और स्वातंत्र्य भावना को उकसाकर धीरे-धीरे स्वराज्य प्राप्त करना चाहते थे, वहीं लाला जी कहते थे कि स्वराज्य कोई घर या कारखाना नहीं है, जिसका निर्माण सीढ़ी दर सीढ़ी हो। उनका राजनीतिक जीवन तूफानी था और उनके हृदय में स्वाधीनता की कामना हिलोरें मारती थी, लेकिन तत्कालीन राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए वे प्रारम्भिक सीढ़ियों के रूप में गृहशासन अथवा औपनिवेशिक स्वराज्य को स्वीकार करने के लिए भी तैयार थे, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी शासन से घृणा थी, अंग्रेजों से नहीं।

वास्तव में लाला जी वीर, साहसी और पुरुषार्थी व्यक्ति थे। उनके लिए क्रान्ति का अर्थ हिंसात्मक कार्यवाही नहीं था, बल्कि देशवासियों के द्वारा अपने आप में योग्यता को प्राप्त करके विदेशी चंगुल से स्वाधीनता प्राप्त कर लेना था। उनकी क्रान्ति अंधविश्वासों को त्याग कर यथार्थ के ध रातल पर खड़े होकर अपनी शक्ति के द्वारा समस्याओं से मुक्ति प्राप्त कर लेना था। जब तक भारत के लोग अपने आप में पात्रता का निर्माण नहीं करेंगे, तब तक गुलामी की जंजीर टूटना कतई असंभव है। इसलिए वे हर प्रकार से अपने ही साधनों के बलबूते अपनी राष्ट्रवादी राजनीतिक संस्कृति की फसल उगाना चाहते थे।

-: सन्दर्भ सूची :-

1. लाला लाजपतराय :- 'द पीपल' 26 जुलाई 1925
2. पी0के0 त्यागी :- भारतीय राजनीतिक विचारक, विश्व भारती पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2006, पृ0-161
3. Dr. V.P. Verma :- Indian Political Thought, P-292
4. 'रविवार', 29 दिसम्बर से 4 जनवरी, 1986, पृ0-25
5. डॉ0 सुधा कुलश्रेष्ठ :- भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का योगदान, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2007, पृ0-219
6. वी0डी0 महाजन :- ब्रिटिश भारत का इतिहास, एस0चांद एण्ड कम्पनी लि0, दिल्ली, पृ0-418
7. Lajpat Roy :- National Education in India, P-134-135
8. Lajpat Roy :- The Political Future of India, P-30
9. पट्टाभि सीतारमैया :- कांग्रेस का इतिहास, पृ0-428
10. सं0 सत्यकेतु विद्यालंकार :- आर्यसमाज का इतिहास, भाग-4, पृ0-496
11. पूर्वोक्त ग्रन्थ
12. उपरोक्तानुसार
13. लाला लाजपतराय :- आर्यसमाज, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, पृ0-144
14. लाला लाजपतराय :- आर्यसमाज, अनुवादक-डॉ0 भवानीलाल भारतीय, आर्य प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ0-144
15. पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0-145
16. पूर्वोक्त ग्रन्थ, पृ0- 145
17. लाला लाजपतराय :- यंग इण्डिया, पृ0-162

Samaj Vigyan Shodh Patrika

Vol. 2 No. XXXXI (2017-18)
ISSN 0973-7626
RNI: UPBIL/2005/16107
OCTOBER 2017 - MARCH 2018

सामाजिक न्याय और महिलाएं- एक विवेचन

पंकज कुमार
डी.एस.एम. डिग्री कॉलेज,
कांठ (मुरादाबाद)

भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय संबंधी विभिन्न प्रावधान हैं।[1] संविधान की प्रस्तावना, मौलिक अधिकार तथा नीति निर्देशक तत्व सामाजिक न्याय का उद्घोष करते हैं। वस्तुतः सामाजिक न्याय से यह अभिप्राय है कि सामाजिक जीवन में सभी मनुष्यों की गरिमा स्वीकार की जाए, साथ ही धर्म, जाति, क्षेत्र, वंश, लिंग या त्वचा के रंग के आधार पर किसी भी व्यक्ति के साथ, किसी भी प्रकार का भेदभाव न हो, शिक्षा एवं विकास के अवसर प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से एवं आसानी से प्राप्त हों और मानव मात्र के रूप में उन्हें समाज की सभी सुविधाओं एवं साधनों का उपभोग करने का अधिकार है। व्यापक अर्थ में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय, तीनों को ही सामाजिक न्याय के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक न्याय, सामाजिक नीतियों या विवादों के समाधान से सम्बन्धित वह दृष्टिकोण है जिसमें विभिन्न पक्षों के परस्पर विरोधी दावों का निर्णय करते समय निर्बल और निर्धन पक्ष को विशेष सहायता एवं संरक्षण प्रदान करने में तत्परता दिखाई जाती है जिससे उनकी दशा सुधारी जा सके और उन्हें सम्मानपूर्ण जीवन यापन का अवसर मिल सके। प्रस्तुत शोध पत्र में उपरोक्त विषय पर प्रकाश डाला जाएगा, साथ ही यह सिद्ध करने की चेष्टा की जायेगी कि संवैधानिक एवं न्यायिक प्रयासों के बावजूद भी आज की 21वीं सदी की भारतीय महिला को सामाजिक न्याय उपलब्ध नहीं है।

वर्तमान समय में सामाजिक न्याय शब्दावली बहुचर्चित हैं परन्तु इस अवधारणा के विषय में कई अस्पष्टताएं हैं आमतौर पर इसका तात्पर्य समानता माना गया है। परन्तु यह मात्र समानता नहीं हैं आधुनिक युग में यह औचित्यपूर्ण समाज की कल्पना करती है जिसमें सभी व्यक्तियों के साथ समान बर्ताव होता है। औचित्यपूर्ण समाज की आधारशिलाएं कई प्रकार की हो सकती हैं जैसे- आध्यात्मिक, आर्थिक या सामाजिक आर्थिक एवं आध्यात्मिक का मिश्रण जो भी हो, यह न्याय की आधुनिक व्याख्या से सम्बन्धित है जैसा कि समकालीन उदारवादी चिंतक जांन राल्स की पुस्तक 'ए थ्योरी ऑफ जस्टिस' से स्पष्ट है। राल्स ने सामाजिक न्याय को अपेक्षित राज्य नीति के क्षेत्र में स्थित किया हैं सामाजिक न्याय को औचित्यपूर्ण न्याय से जोड़ते हुए उन्होंने लिखा कि आर्थिक असमानता तभी सहनीय है जबकि यह निर्धनों के हित में है। इसलिए वस्तुओं, अवसरों और लाभों के वितरण में निर्वल, निर्धन और असहाय वर्गों के हितों का ध्यान रखना औचित्यपूर्ण समाज के निर्माण के लिए आवश्यक है। इस प्रकार कल्याणकारी नीतियों से सामाजिक न्याय की प्राप्ति हो सकती है।[2] जॉन राल्स के विपरीत महात्मा गांधी ने सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए राज्य और समाज दोनों को उत्तरदायी माना। यह उनके न्याय का सिद्धान्त और सर्वोदय से स्पष्ट है।

भारत में शताब्दियों से महिलाओं ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में असमान व्यवहार पाया है इसका प्रमुख कारण

भारतीय समाज का अन्य प्रमुख समाजों की भांति पितृ प्रधान होना है। भारतीय इतिहास में इस बात के अनेक प्रमाण है कि महिलाओं की इस स्थिति का विरोध हुआ है, विशेषकर भक्ति आंदोलन के समय मध्यकालीन संतों और समाज सुधारकों ने महिलाओं के उत्थान का प्रश्न उठाया था परन्तु दुर्भाग्यवश इसका समाज पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा जिससे महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं हो सका। भारतीय पुनर्जागरण काल में विभिन्न सुधारवादी संगठनों ने समाज में फैली स्त्री पुरूष विषमता को चुनौती दी एवं अनेक सुधारात्मक प्रयास किए। आधुनिक भारत में राजा राममोहनराय ने सर्वप्रथम महिलाओं के प्रति अन्याय के प्रश्न को व्यापक एवं प्रखर रूप में उठाया। उन्होंने सती प्रथा, बाल विवाह, बहुपत्नी प्रथा एवं वेश्यागमन इत्यादि सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया एवं विधवा पुनर्विवाह का समर्थन किया। आर्थिक स्वावलंबन की चर्चा करते हुए राममोहन ने हिन्दु स्त्रियों को उत्तराधिकार दिये जाने की मांग की ताकि महिलाएं भी आर्थिक रूप से सशक्त हो सकें। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवनकाल में सर्वाधिक कार्य स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए किया। उनके अनुसार पुत्र एवं पुत्रियां समान हैं इसीलिए उन्होंने बाल विवाह, शाश्वत वैधव्य विधवा को हेय माना, पर्दा प्रथा दहेज प्रथा वेश्यागमन देवदासी प्रथा इत्यादि सभी सामाजिक बुराइयों का घोर विरोध किया। भारत के सामाजिक इतिहास में वह पहले सुधारक थे जिन्होंने शूद्र एवं स्त्री को वेद पढ़ने तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने, यज्ञोपवीत धारण करने एवं अन्य समस्त मामलों में ऊंची जाति तथापुरूषों के बराबर के अधिकार दिलाने के लिए आन्दोलन किया। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज में समानता की भावना को जगाने का प्रयत्न किया। महिलाओं को सामाजिक न्याय प्रदान करने के लिए आधुनिक काल में सर्वप्रथम मांग एवं संघर्ष स्वामी दयानन्द ने ही की।

भारतीय पुनर्जागरण काल में महिलाओं के पक्ष में सामाजिक विधायन के लिए अनेक लोगों ने संघर्ष किया जिसका सकारात्मक परिणाम भी प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, डी.के. कर्वे, एम.जी. रानाडे, गोपाल कृष्ण गोखले एवं एनी बेसेन्ट की भूमिका इतिहास में दर्ज है। उन्नीसवीं सदी की एक महत्वपूर्ण विशेषता लड़कियों की शिक्षा का प्रयास है। इस क्षेत्र में ईश्वरचन्द्र विद्या सागर, ज्योतिबा फुले, रामगोपाल घोष, केशवचन्द्र सेन इत्यादि के योगदान अविस्मरणीय है। इस काल में महिलाओं की स्थिति सुधारने हेतु प्रयास मुख्यतः पुरूषों द्वारा ही किया गया था। इन प्रयासों का अप्रत्यक्ष प्रभाव यह हुआ कि महिला शिक्षा में वृद्धि हई जिससे विभिन्न व्यवसायों में महिलाओं ने महत्वपूर्ण भूमिकाओं को निभाना आंरभ किया जैसे- शिक्षक, चिकित्सक, स्वास्थ्य सेवाकर्त्री इत्यादि की भूमिका। इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में महिलाओं का प्रवेश शुरू हुआ। महिला संगठनों का निर्माण एवं महिला अधिकारों के लिए संगठित प्रयास बीसवीं सदी के आंरभिक काल में शुरू हो गये थे। सन 1917 में महिलाओं का भारत संघ एवं 1920 में भारतीय महिलाओं की राष्ट्रीय परिषद का गठन हुआ। 1927 में महिला कल्याण एवं विकास के लिए अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना की गई। जिसने महिला मुद्दों को व्यापक राष्ट्रव्यापी स्वरूप प्रदान किया। 1929 में गठित राष्ट्रीय उदारवादी संघ एवं महिला कोष संघ ने भी महिला कल्याण की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया। एक महिला प्रतिनिधि मण्डल ने 1917 में भारत सचिव से मिलकर महिला मताधिकार की मांग की। महिलाओं के लिए समान अधिकारों विशेषकर राजनैतिक अधिकार के संघर्ष में सरोजनी नायडू, माग्रेट कजिन्स, एनी बेसेन्ट, मुथुलक्ष्मी रेड्डी रामेश्वरी नेहरू, बेगम हामिद अली एवं राजकुमारी अमृत कौर सहित अनेक महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही। स्पष्ट है कि महिलाओं के अधिकारों हेतु भारत में महिलाओं ने भी स्वयं आगे बढ़कर कार्य किया है।[4]

महिलाओं ने सीमित रूप से सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करना प्रारंभ ही किया था कि महात्मा गांधी का प्रवेश भारतीय राजनीति में हुआ। राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के साथ ही सामाजिक समानता एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता भी गांधी जी के कार्यो एवं विचारों का केन्द्रीय तत्व था। इसीलिए उन्होंने महिलाओं की स्थिति में सकारात्मक परिवर्तन पर विशेष ध्यान दिया क्योंकि स्त्री पुरूष की समता सामाजिक समानता का अनिवार्य अंग है। उन्होंने

पर्दा प्रथा की निन्दा की और स्त्रियों को परदा छोड़कर राष्ट्रीय आन्दोलन, चरखा कातने एवं धरनों में शमिल होने का आह्वान किया। उनके 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में महिलाओं ने बहुत बड़ी संख्या में भागीदारी की और जेल भी गईं। भारतीय महिलाओं की स्वतंत्रता के इतिहास में यह घटना मील का पत्थर मानी जाती है। इस प्रकार महात्मा गांधी ने महिलाओं को मुक्ति का पैगाम दिया और राष्ट्रीय आन्दोलन से उन्हें जोड़ा। गांधी जी बुद्धिमत्तापूर्ण तरीके से देशभक्ति के लिए ऐसे प्रतीकों का प्रयोग किया जिन्हें कि महिलाओं सरलता पूर्वक उपयोग में ला सकती थीं और स्वयं को देशभक्ति एवं राष्ट्रवादी दर्शा सकती थीं। ऐसे प्रमुख तरीके अग्रलिखित थे- अहिंसक आन्दोलन, नमक का प्रयोग, चरखा चलाना एवं खादी पहनना, शराब, अफीम एवं विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना देना, विदेशी वस्त्रों को जलाना, स्वदेशी का प्रचार एवं सरकारी स्कूलों का बहिष्कार इत्यादि।[5] गांधी जी ने महिलाओं को देशभक्त सिद्ध कर उन्हें समाज में सम्मानित स्थान दिलाने का प्रयास किया।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों का केन्द्रीय बिन्दु 'दलितोत्थान' था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में दलित स्त्रियों की भूमिका का महत्व वह बखूबी जानते थे इसीलिए उन्होंने इनकी शिक्षा एवं स्वच्छता पर बहुत जोर दिया। उन्होंने दलित स्त्रियों से कहा कि, ''अपने बच्चों को स्कूल भेजों। शिक्षा जितनी जरूरी पुरूषों के लिए है उतनी ही स्त्रियों के लिए भी आवश्यक है। यदि तुम लिखना पढ़ना जान जाओ, तो बहुत उन्नति होगी, जेसी तुम होओगी, वैसे ही तुम्हारे बच्चे बनेंगें। अच्छे कार्यो की ओर अपना जीवन मोड़ दो। तुम्हारे बच्चे इस संसार में चमकते हुए हों।''[6] इस प्रकार अम्बेडकर ने दलितोद्धार के लिए महिलाओं की स्थिति में सुधार को एक आवश्यक कार्य माना और इसे व्यावहारिक रूप देने का जीवन पर्यन्त प्रयास किया।

संविधान की प्रस्तावना समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय, विभिन्न प्रकार की स्वतंत्रताएं एवं समता प्रदान करने का वचन देती है। मूल अधिकारों के अध्याय के अन्तर्गत महिलाओं को पुरूषों के ही समान अधिकार मिले हुए हैं। विधि के समक्ष स्त्री एवं पुरूष दोनों समान हैं और विधियों का संरक्षण उन्हें समान रूप से प्राप्त है।[7]

भारतीय लोकतंत्र में पिछले सात दशक में महिलाओं को सामाजिक न्याय देने की दृष्टि से भारत की विधायिका, संसद एवं राज्य विधानमण्डलों ने अनेक कानूनों को बनाया है, वहीं दूसरी ओर भारत की न्यायपालिका, सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों ने अनेक न्यायिक निर्णयों के माध्यम से स्त्रियों को अनेक कानूनी संरक्षण प्रदान किए हैं। महिलाओं की स्थिति में सुधार और उन्हें पुरूषों की तुलना में समानता प्रदान करने हेतु अनेक प्रयास किये गये हैं जिनमें महिलाओं को विवाह के सम्बन्ध में निर्णय की स्वतंत्रता गर्भ का चिकित्सकीय समापन, 1971 के द्वारा महिला को गर्भधारण की स्वतंत्रता प्राप्त है, मातृत्व लाभ अधिनियम, 1961 सेवरात गर्भवती महिला को प्रसूति अवकाश का लाभ प्रदान करता है, महिलाओं को विवाह-विच्छेद (तलाक) का भी अधिकार पुरूषों के समान प्राप्त है। इसी प्रकार तलाकशुदा स्त्री यदि पुनः विवाह करना चाहे, तो वह ऐसा करने के लिए पुरूष की तरह ही स्वतंत्र है, महिलाओं को भरण पोषण का अधिकार, दहेज प्रतिषेध अधिनियम 1961 महिलाओं को दहेज की कुप्रथा से मुक्ति दिलाने का सराहनीय प्रयास करता है। समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 राष्ट्रीय महिला आयोग अधिनियम, 1990 प्रसव पूर्व नैदानिक तकनीक अधिनियम 1994, इसके माध्यम से कन्या भ्रूण हत्या जैसे घृणित अपराध को रोकने की पहल की गई है, महिलाओं को घरेलू हिंसा से संरक्षण अधिनियम 2005 आदि प्रमुख हैं।[8]

महिलाओं के हितों की रक्षा एवं उन्हें सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने की दिशा में न्यायालयों की भूमिका बहुत सराहनीय रही हैं न्यायालयों ने अपने कुछ रचनात्मक निर्णयों एवं ऐतिहासिक व्याख्याओं द्वारा महिला हितों को बढ़ावा दिया है। ऐसे निर्णय या तो स्वयं कानून बन गये हैं या तो उन्हें कानून बना दिया गया है। इस प्रकार के प्रमुख निर्णय हैं- विशाखा बनाम राजस्थान राज्य, 1997 के बाद में उच्चतम न्यायालय ने यौन उत्पीड़न को गम्भीरता से लेते हुए निर्णय दिया कि कामगार महिला का यौन उत्पीड़न लैंगिक समानता के अधिकार तथा प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता के अधिकार का उल्लंघन है। अतः पीड़िता

उपचार की हकदार हैं लिंग पर आधारित विभेद का एक महत्वपूर्ण वाद उत्तराखण्ड महिला कल्याण परिषद वनाम उत्तर प्रदेश राज्य 1992 हैं। जिसमें सर्वोच्च न्यायालय ने स्पष्ट कि है कि लिंग आधारित विभेद की हमारी सांविधानिक व्यवस्था में कोई जगह नहीं है। साथ ही उसने उत्तर प्रदेश को महिलाओं को समान कार्य के लिए पुरुषों के समान वेतन एवं पदोन्नति के समान अवसर उपलब्ध कराने के लिए परमादेश रिट जारी किया।[9]

पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से महिलाओं को सामाजिक न्याय दिलाने के प्रयास किए गए, यह अलग बात है कि ये प्रयास आशानुकूल सफल नहीं रहे। महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति, 2001 के माध्यम से भारतीय महिलाओं को समान अधिकार, समान स्वतंत्रता एवं समान स्तर प्रदान करने का लक्ष्य रखा गया है जिससे वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुरूषों के समान सुविधाओं का उपभोग करने में समर्थ हो सकें।[10] महिलाओं को सामाजिक न्याय उपलब्ध कराने की दिशा में यह नीति एक महत्वपूर्ण पहल करती हुई दिखाई पड़ती है। यदि वास्तविक रूप में इस नीति पर अमल हो तो भारत में स्त्रियों की दशा में सकारात्मक एवं क्रान्तिकारी परिर्वतन हो सकता है।

भारतीय संविधान समस्त नागरिकों को समाजिक न्याय उपलब्ध कराने का वचन देता है और क्योंकि महिलाएं नागरिकों के आधे भाग का प्रतिनिधित्व करती हैं तथा संविधान के लागू हुए आधी शताब्दी से अधिक का समय हो चुका है इसलिए यह आशा की जाती है कि उन्हें भी सामाजिक न्याय प्राप्त होगा। परन्तु वास्तविक नागरिक जीवन में स्त्रियों को सामाजिक न्याय की उपलब्धता की स्थित असंतोषजनक एवं निराशापूर्ण हैं शिक्षा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास एवं आर्थिक सुरक्षा की प्राप्ति का प्रमुख साधन है। परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में महिलाओं से भेदभाव अभी भी प्रचलित है जिसका दुष्प्रभाव उनके विकास पर पड़ रहा है।[11]

भारतीय समाज में महिलाओं के साथ भेदभाव, शोषण एवं अन्याय का प्रचलन अनवरत रूप से चल रहा हैं बालिका से भेदभाव मां के गर्भ से ही शुरू हो जाता है। लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष होने वाली मादा भ्रूण हत्याएं इस बात को सत्य साबित करती है। मादा भ्रूण हत्या की वजह से ही पुरूष/स्त्री लिंगानुपात बहुत चिंताजनक स्तर पर पहुंच गया हैं जिससे अनेक सामाजिक विसंगतियां जन्म ले रही है।

प्रत्येक वर्ग/समूह की सामाजिक आर्थिक दशा, उनकी राजनीतिक दशा से अर्न्तसम्बन्धित होती है। भारतीय समाज में महिलाओं की सामाजिक आर्थिक स्थिति के मुख्य रूप से कमजोर होने का स्पष्ट प्रभाव उनकी राजनीतिक स्थिति पर पड़ रहा है। महिला सशक्तिकरण के विभिन्न दावों एवं नारों के बावजूद 21वीं सदी में भी भारतीय संसद में महिला सांसदों की संख्या बहुत ही कम है।

भारत में महिलाओं की दशा अच्छी नहीं होने का मूल कारण समाज, राजनीति संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था की समस्त मूलभूत संरचनाओं में पितृसत्तात्मक सोच की मजबूत अवस्थिति है। इसीलिए राजनैतिक एवं आर्थिक विकास की उल्लेखनीय उपलब्धियों के बाद भी लैंगिक न्याय, लैंगिक समता एवं वास्तविक महिला अधिकार उपेक्षित ही बने हुए है। महिलाएं, असमानता, अधिकारहीनता एवं अन्याय की स्थिति में जीवन व्यतीत कर रही है। महिलाओं की स्थिति को बेहतर बनाने एवं उन्हें पुरूषों की तुलना में समान अवसर एवं समान व्यवहार उपलब्ध कराने के लिए, केवल सरकारी नीतियां एवं कानून ही पर्याप्त नहीं हैं वरन उनके सख्त क्रियान्वयन की भी आवश्यकता है। शासकीय प्रतिबद्धता ही महिलाओं को सामाजिक न्याय उपलब्ध करा सकती है। सामाजिक न्याय की कोई भी प्रक्रिया, जो महिलाओं की स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देती और महिलाओं को समाज एवं राष्ट्र के विकास में पुरूषों के समान सक्रिय रूप में भाग लेने में सहायता करने हेतु अधिक प्रभावी रणनीतियां नहीं बनाती, वह प्रगतिशील एवं प्रशसंनीय नहीं मानी जा सकती है।

वस्तुतः महिलाओं के सम्बन्ध में सामाजिक न्याय को रचनात्मक ढंग से परिभाषित तथा व्यवस्थित करने की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में संविधान के प्रावधानों के सम्यक क्रियान्वयन पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। साथ ही सामाजिक परिदृश्य एवं मानसिकता को भी बदलने की आवश्यकता है।

: संदर्भ सूची :

1. भारत का संविधान, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली
2. देखें जॉन रॉल्स, ए थ्योरी ऑफ जस्टिस, हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस कैम्ब्रिज 1971
3. बी.एल. ग्रोवर, यशपाल एंव अलका मेहता, आधुनिक भारत का इतिहास- एक नवीन मूल्यांकन, एस. चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली 2005 पृ. 274-75
4. देखें, गेराल्डिन एच. फारबस, द वूमेन्स मूवमेंन्ट इन इण्डिया ट्रेडिशनल सिम्बल्स एण्ड न्यू रोल्स अन्तर्गत एम.एस.ए. राव (संपादित) सोशल मूवमेंट इन इण्डिया मनोहर नई दिल्ली 2004, पृ. 365-81
5. मधु किश्वर, गांधी ऑन वूमेन, अन्तर्गत रघुरामाराजू (संपादित), डिबेटिंग गांधी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली 2006 पृ. 269-323
6. धनंजय कीर, डो अम्बेडकरः लाइफ एण्ड मिशन, पापुलर प्रकाशन, बम्बई 1991, पृ. 104
7. भारतीय संविधान में महिलाओं से सम्बन्धित प्रमुख प्रावधानों के अध्ययन हेतु देखें, रत्ना कपूर एवं बृन्दा कॉसमन, ऑन वूमेन, इक्वॉलिटी एण्ड द कान्स्टीटयूशन : थ्रू द लुकिंग ग्लास ऑफ फेमिनिज्म अन्तर्गत निवेदिता मेनन (संपादित) जेन्डर एण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस नई दिल्ली 2001, पृ. 197-261
8. पूरणमल, पूर्वोक्त पृ. 105-08 साथ ही देखें, प्रतियोगिता दपर्ण, अप्रैल 2007, पृ. 1630
9. जय जय राम उपाध्याय, मानव अधिकार सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी इलाहाबाद 2002 प. 365
10. भारत 2007, पृ. 962
11. नीरा देसाई एवं ऊषा ठक्कर, वूमेन इन इण्डियन सोसाइटी, नेशनल बुक ट्रस्ट दिल्ली 2001, प. 55

Samaj Vigyan Shodh Patrika

Vol. 2 No. XXXXI (2017-18)
ISSN 0973-7626
RNI: UPBIL/2005/16107
OCTOBER 2017 - MARCH 2018

राजनीति विज्ञान व उसकी संकल्पनाएँ

श्रीमती राधिका
असिस्टेन्ट प्रोफेसर- राजनीति विज्ञान विभाग
ए.के.पी. डिग्री कॉलेज, खुर्जा (बुलन्दशहर)

राजनीति या राजनीति विज्ञान, ज्ञान की वह महत्वपूर्ण शाखा है, जो राज्य, शासन व सत्ता का अध्ययन करती है। यह प्राकृतिक विज्ञान नहीं है, जिसके नियम ठोस व अकाट्य हों, जैसा हम कोपरनिकस, गैलीलियो, न्यूटन या आइंस्टीन जैसे वैज्ञानिकों के योगदान में देख सकते हैं। यह सामाजिक विज्ञान की कोटि में आता है, जिसमें मानव और सत्ता या प्राधिकार के साथ उसके सम्बन्ध को अध्ययन का केन्द्र बिन्दु माना जाता है। चूँकि मानव का व्यवहार समय व स्थान के अनुसार परिवर्तनशील रहता है, इसीलिए इस विषय के नियम भी शाश्वत या अकाट्य नहीं हो सकते। फिर भी, अरस्तू, मेक्यावली, हॉब्स, लॉक, मांटेस्क्यु, मिल, मार्क्स, डी टाकवेल व लास्की जैसे सिद्धान्तशास्त्रियों ने ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया है, जिन्हें किसी विशेष परिप्रेक्ष्य में 'वैज्ञानिक' होने का श्रेय दिया जा सकता है। व्यवहारवादी क्रान्ति (Behavioural Revolution) के अग्रणी विद्वानों ने राजनीति विज्ञान का कुछ सीमा तक वैज्ञानीकरण किया है। इसी को अपने ध्यान में रखते हुए डेविड ईस्टन ने कहा है, ''बीसवीं शती के मध्य में राजनीति विज्ञान का ज्ञान की वह शाखा है, जो अपने स्वरूप की खोज में संलग्न है। स्वरूप की इस समस्या को सुलझाने के प्रयास में इसने अपने निजी सैद्धान्तिक ढाँचे से युक्त ज्ञान की एक स्वायत्त एवं स्वतन्त्र शाखा के रूप में उभरने का साक्ष्य प्रस्तुत करना शुरू कर दिया। इस दिशा में जिस तत्व ने सबसे अधिक योगदान किया है, वह इस शाखा के अन्तःस्थल में विज्ञान की विधियों का ग्रहण एवं अंगीभूत किया जाना है।''[1]

अभिप्राय व क्षेत्र (Meaning and Scope)– हर ज्ञान–शाखा का अपना अर्थ व क्षेत्र होता है, जिससे उसकी पहचान की जाती है। यदि भौतिकशास्त्र ऊर्जा का अध्ययन करता है, या अर्थशास्त्र मानव व धन के बीच सम्बन्ध का अध्ययन करता है तो राजनीति विज्ञान का सरोकार मानव व सत्ता के साथ उसके सम्बन्ध से है। मनुष्य समाज में रहता है। समाज का आशय मनुष्यों के संगठित, व्यवस्थित व शान्तिपूर्ण जीवन से है। अतः जहाँ समाज है, वहाँ किसी न किसी रूप में सत्ता भी विद्यमान है। यदि ऐसा नहीं है, तो वही भयानक अवस्था है, जिसे हॉब्स (Hobbes) ने 'प्राकृतिक युग' कहा है और जिसके निराकरण के लिए 'कॉमनवैल्थ' (समाज, राज्य व शासन) की स्थापना की जाती है। यही कारण है कि इस विषय का अध्ययन उतना ही पुराना है, जितना मानव सभ्यता। चीन, भारत व मिस्र की सभ्यताएँ

सबसे पुरानी हैं, इसीलिए यहाँ सन्तों के उपदेशों या उनके ग्रन्थों में राजनीति के अध्ययन के लिए सामग्री ढूँढ़ी जा सकती है। कालांतर में नगर–राज्य का उदय हुआ, जिसे यूनानी विद्वानों ने पोलिस (Polis) कहा। उन्होंने अपनी शासन व्यवस्था को पोलिटी (Polity) कहा। अरस्तु ने इन्हीं दोनों यूनानी शब्दों के संयोग से पालिटिक्स (Politics) शब्द का निर्माण किया। आधुनिक युग के प्रारम्भ में इटली के मेक्यावली ने स्टेटो (Stato) व स्टेटी (Stati) शब्दों का प्रयोग किया, जिससे अंग्रेजी भाषा के शब्द स्टेट (State) का उदय हुआ।[2]

विकास के साथ राज्य का अर्थ व स्वरूप भी बदलते रहे हैं। यदि प्राचीन युग में नगर–राज्य व्यवस्था थी, तो मध्ययुग में रोमन साम्राज्य के विघटन के उपरान्त सामन्तवादी व्यवस्था आई। आधुनिक युग में राष्ट्र–राज्य बना, जिसके विकास ने आधुनिक साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद को जन्म दिया। राष्ट्रवाद की विजय ने अन्तर्राष्ट्रवाद को उभारा तथा अब भूमण्डीलकरण के युग में राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ व स्वरूप बदल रहा है। यही कारण है कि राजनीति विज्ञान का अध्ययन–क्षेत्र भी बढ़ता जा रहा है। अब यह केवल राज्य व सरकार का अध्ययन नहीं है, बल्कि सत्ता का अध्ययन है। और चूँकि सत्ता के लिए संघर्ष हर स्तर पर चल रहा है, चाहे वह स्थानीय हो या राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय, अतः हर स्तर पर ऐसी सामग्री ढूँढ़ी जा सकती है जो इस विषय के भंडार को समृद्ध बनाती है। अतः राजनीति विज्ञान के अर्थ व उसके क्षेत्र का डेविड हेल्ड इन शब्दों में वर्णन करता है– ''राजनीति सामाजिक अभिकर्ताओं, व्यवस्थाओं व संस्थाओं की रूपांतरकारी क्षमता से सम्बन्धित है, इसका मात्र शासन या शासनों से सरोकार नहीं है।''[3]

अतः हम राजनीति विज्ञान के अर्थ व क्षेत्र को निम्न परिप्रेक्ष्यों में देख सकते हैं :

राज्य का अध्ययन (Study of State)–

सामान्यतः राजनीति को राज्य का अध्ययन माना जाता है। गार्नर के अनुसार, राजनीति विज्ञान का अध्ययन राज्य से शुरू होता है, राज्य पर ही समाप्त हो जाता है। यूनानियों ने नगर–राज्य का अध्ययन किया, इसीलिए सीले ने टिप्पणी की है कि उनके लिए राजनीति विज्ञान एक नागरी विज्ञान की भाँति था। राज्य का अध्ययन अत्यन्त व्यापक विषय है। यह भूतकाल, वर्तमान काल तथा भविष्य काल, सभी को समाहित कर लेता है। इस विषय के अध्ययनकर्ता यह जानने का प्रयास करते है कि अतीत में राज्य कैसा रहा है, वर्तमान में उसका क्या रूप है तथा भविष्य में राज्य कैसा हो सकेगा या होना चाहिए। इसीलिए गार्नर लिखता है– ''सामान्य तौर से, इसकी मौलिक समस्याएं यह हैं कि प्रथम, राज्य की उत्पति व उसकी प्रकृति का परीक्षण किया जाए। दूसरे, राजनीतिक संस्थाओं की प्रकृति, उनके रूपों तथा उनके इतिहास की पड़ताल की जाए, तथा तीसरे, जहाँ तक सम्भव हो, उनमें से ऐसे निष्कर्ष निकाले जायें कि जो राजनीतिक विकास के नियमों का निर्धारण करें।'' गेटेल के अनुसार राजनीति विज्ञान इस बात का ऐतिहासिक परीक्षण है कि राज्य कैसा रहा है, इस बात का विश्लेषणात्मक अध्ययन है कि राज्य कैसा है तथा इस बात का राजनीतिक–नैतिक विवेचन है कि राज्य कैसा होना चाहिए।''[4]

शासन का अध्ययन (Study of Government) –

धीरे–धीरे राज्य व शासन में अन्तर स्पष्ट हो गया, इसीलिए इस विषय को राज्य व शासन का अध्ययन कहा जाने लगा। एक फ्रेंच लेखक पाल जेने (Paul Janet) के अनुसार, ''राजनीति शास्त्र, विज्ञान का वह भाग है, जो राज्य के आधारों तथा शासन के सिद्धान्तों का अध्ययन करता है।''[5] सीले (Seeley) के विचार में, ''जिस प्रकार राजनीतिक अर्थव्यवस्था का सरोकार धन से है, राजनीति का सरोकार शासन से है।''[6] सरकार को राज्य की आत्मा कहते हैं, क्योंकि जैसा लास्की ने कहा है कि ''सरकार राज्य की इच्छा को लागू करती है।''[7] शासन से मतलब है

उसके तीनों अंग– व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व न्यायपालिका। कालान्तर में कार्यपालिका के उपांग के रूप में नौकरशाही का विकास हुआ है तथा इन तीनों अंगों के बाहर राजनीतिक दल व दबावकारी गुट अपनी भूमिका निभाते हैं। राजनीति विज्ञान के अध्ययन में वे सभी आ जाते हैं। शासनों के अनेक प्रमुख रूप उभरे हैं, जैसे– राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र, कुलीनतन्त्र व प्रजातन्त्र तथा उनके भीतर गौण रूपों का विकास हुआ है, जैसे– एकात्मक व संघात्मक शासन, संसदीय व अध्यक्षीय शासन आदि, जो इस विषय के अध्ययन क्षेत्र में आते हैं। यही कारण है कि बीसवीं शती के प्रमुख लेखकों ने इस विषय को राज्य व शासन का अध्ययन बताया। विलोबी के शब्दों में, ''तीन प्रमुख विषय हैं, जिनके साथ राज्य विज्ञान का सम्बन्ध है– राज्य, शासन तथा कानून।''

सत्ता का अध्ययन (Study of Power)–

मेक्यावेली व हॉब्स जैसे महान् राजनीतिक दार्शनिकों ने राजनीति को सत्ता व उसके हेतु संघर्ष माना है। प्रथम महायुद्ध के बाद की अवधि में इसे सत्ता का विज्ञान कहा जाने लगा। अरस्तु को इसका पिता होने का श्रेय प्राप्त है। मेक्यावली ने धर्म व नैतिकता को पूर्णतया एक तरफ करके राजनीति का 'नया मार्ग' दिखाया, इसीलिए उसे नयी राजनीति का पिता कहा जाता है। हॉब्स ने सत्ता का व्यापक अध्ययन किया। उसने ऐसे ठोस व अकाट्य नियम बनाए, जैसे भौतिकी में हैं। इसीलिए उसे वैज्ञानिक राजनीति का पिता कहा जाता है। इस दिशा में अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय के प्रो. चार्ल्स मैरियम को विशेष श्रेय प्राप्त है, जिन्होंने एक नयी दिशा दिखाई और फिर ईस्टन, एमंड, ऐप्टर, लैसवेल, डायश, डाहल आदि लेखकों ने उसी दिशा को आगे बढ़ाया। इन लेखकों ने 'सत्ता' शब्द का बहुत विशद् अर्थ लगाया, जिससे वह अनेक शब्दों का पर्याय बन गया, जैसे– प्राधिकार, नियन्त्रण, प्रभाव, दमन, प्रभुत्व, अनुनय–विनय आदि। सत्ता के खेल में इन सभी तत्वों का प्रयोग होता है। सत्ता समूचे समाज में विसरित होती है, किन्तु इस विसरण या वितरण में अनेक पक्ष भाग लेते हैं, जैसे– राजनीतिक दल, हितबद्ध समूह, संभ्रान्त वर्ग, नेतागण आदि, जो अनेक संसाधनों का अपने हितार्थ प्रयोग करते हैं। हेल्ड कहता है,: ''राजनीति का सरोकार सत्ता से है तथा उन शक्तियों या तत्वों से है जो इसके वितरण व उसके प्रयोग को प्रभावित व परिलक्षित करते हैं, तथा यह देखना है कि उसका संसाधनों के प्रयोग व वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है।''

संक्षेप में, राजनीति या राजनीति विज्ञान राज्य, शासन व सत्ता का अध्ययन है। हालिया समय में इस विषय का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है, क्योंकि जहाँ सत्ता व उसके हेतु संघर्ष है, वहाँ राजनीति है, चाहे वह स्थानीय पंचायत हो या अन्तर्राष्ट्रीय परिषद, किसानों का संघ हो या उद्योगपतियों का सिंडिकेट, छात्रों की यूनियन हो या महिलाओं का क्लब आदि। लेकिन इस दिशा में एक नया परिवर्तन यह हुआ है कि अब राजनीति के अध्ययन में संघर्ष या खींचतान के साथ सामाजिक सहयोग व समन्वय को भी लिया जाता है, जो सत्ता के संघर्ष पर अपना निश्चित प्रभाव डालते हैं। बनार्ड क्रिक सावधान करते हैं कि राजनीति को त्यागना हर उस वस्तु को नष्ट कर देना है जो हमारे सभ्य समाज की विविधता व उसकी बहुलता को व्यवस्थित करती है। यह हमें इस योग्य बनाती है कि अराजकता या किसी एक सत्य के अत्याचार को सहन किये बिना हम उस विविधता का आनन्द लें।

संकल्पनाएँ (Concepts)–

हर विषय का अपना स्पष्ट अध्ययन–क्षेत्र होता है, जिसमें उसकी महत्त्वपूर्ण संकल्पनाएँ भरी होती हैं। हर संकल्पना का अपना अर्थ व अपनी प्रकृति होती है, जिसका समझना अनिवार्य होता है। प्राकृतिक विज्ञानों की संकल्पनाओं की निश्चित व मानक परिभाषा होती है, जिस पर कोई विवाद नहीं हो सकता। किन्तु जो विषय मानव के आचरण

से सम्बन्धित हैं, उनकी ऐसी निश्चित या मानक परिभाषा नहीं की जा सकती। समय व स्थान के साथ समाज की मूल व्यवस्थाएँ बदल जाती हैं, इसीलिए संकल्पनाओं के भावार्थ व आयाम भी बदल जाते हैं। कभी नगर–राज्य था, फिर साम्राज्य आया, फिर राष्ट्र–राज्य का उदय हुआ और अब भूमण्डलीकरण या उदारीकरण का युग है। कभी सामन्तवाद था, फिर पूँजीवाद आया, फिर समाजवाद (साम्यवाद) का दौर आया, अब नव–उदारवाद का दौर चल रहा है।

कुछ नयी परिभाषाएँ :

''अब राजनीति' की परिभाषा इस प्रकार की जाती है कि उसमें सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्र समाहित हो जाते हैं, जैसे– लिंग, नस्ल व वर्ग। अब राजनीति को शासन की संस्थाओं से सक्रिय रूप में केन्द्रित वस्तु नहीं, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों के सभी पक्षों से सम्बद्ध विषय समझा जाता है।''[8]

–ए. गैमबिल

''राजनीति' सार्वजनिक जीवन व क्रिया का कोई पृथक् क्षेत्र नहीं है। इसके विपरीत, राजनीति समाज के भीतर व समाजों के बीच संघर्ष व सहयोग की समस्त गतिविधियों को समाहित करती है, जिसके द्वारा लोग अपने प्राणिशास्त्रीय व सामाजिक जीवन में उत्पादन व पुनः उत्पादन के क्रम में मानवीय, राष्ट्रीय व अन्य संसाधनों के प्रयोग, उत्पादन व वितरण का गठन करते हैं।''[9]

–ए. लैफ्टविच

''सार रूप में, हम राजनीतिक तौर से काम करते हैं। जब हम मात्र अपने लिए नहीं, बल्कि अन्य लोगों की ओर से निर्णय–निर्माण करते हैं। राजनीति का अर्थ है सांझी परियोजनाओं का बनाना व उन्हें संगठित करना, लोगों के परस्पर सम्बन्धों को परिभाषित करना, नियमों व मानदंडों को निश्चित करना तथा मानवों की विरोधी आवश्यकताओं व उनके प्रयोजनों के लिए संसाधानों का आवंटन करना।''[10]

–सी. एण्डरसन

''अपने वृहत्तम अर्थ में राजनीति एक क्रिया है, जिसके माध्यम से लोग उन सामान्य नियमों को बनाते, बनाए रखते व संशोधित करते हैं, जिनके अधीन वे रहते हैं। अतः राजनीति संघर्ष व सहयोग की परिघटनाओं से अनन्य रूप में जुड़ी है। यही कारण है कि प्रायः राजनीति का हृदय संघर्ष–निवारण निहित बताया जाता है, जिसमें समूहों या प्रतियोगी हितों का एक–दूसरे से सामंजस्य होता है।'[11]

–ए. हेवुड

राजनीति एक परिघटना है, जो सभी समूहों, समाजों व संस्थाओं के भीतर व उनके मध्य पाई जाती है, जो मानव के सार्वजनिक व निजी प्रयासों के समस्त क्षेत्रों को समाहित करती है। यह संसाधनों के प्रयोग, उत्पाद व वितरण से सम्बद्ध सहयोग, वार्ता व संघर्ष की सारी गतिविधियों में अभिव्यक्त होती है।[12]

–डेविड हेल्ड

यही कारण है कि राजनीति विज्ञान की संकल्पनाओं के अभिप्राय बदलते रहे हैं। हर संकल्पना की परिभाषा चिन्तन के आधार पर निर्मित होती है, इसीलिए ज्ञान शाखा का दर्शनशास्त्र के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। बर्ट्रेण्ड रसेल ने ठीक कहा है कि ''दर्शन शास्त्र ऐसा विषय है, जिसका किसी तरीके से स्थिर अर्थ नहीं निकाला जा सकता। 'धर्म' शब्द की तरह इसका एक अर्थ होता है जब किसी ऐतिहासिक संस्कृति के कुछ लक्षणों का वर्णन किया जाता है। इसका दूसरा अर्थ हो जाता है, जब मस्तिष्क के रूझान के समान इसका अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है, जो आज की स्थिति में बोधगम्य समझा जाता है।''[13]

राजनीति विज्ञान की विषय–सामग्री में अनेक महत्वपूर्ण संकल्पनाएँ हैं, जैसे– राज्य, शासन, सत्ता प्राधिकार, अधिकार, स्वतन्त्रता, समानता, सम्पत्ति, न्याय, राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक

वैधता व प्रभावशीलता, राजनीतिक आभार, राजनीतिक आधुनिकीकरण, राजनीतिक विकास व अल्प–विकास राजनीतिक सहभागिता, राजनीतिक अलगाव, राजनीतिक संप्रेषण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक समाजीकरण, कानून, कानून का शासन, लोकतन्त्र, नागरिक समाज इत्यादि। इस रचना में कुछ महत्वपूर्ण संकल्पनाओं को लिया गया है।

किन्तु इस विषय के अध्ययनकर्ता के सामने यह समस्या पैदा होती है कि वह हर संकल्पना के विविध अर्थों, भावार्थों व रूपों की विविधता को किस प्रकार समझे और फिर उनका आलोचनात्मक मूल्यांकन कैसे करे। ऐसा अभ्यास भ्रामक व रोचक दोनों है। भ्रामक– क्योंकि यह उसे दुविधा के मायाजाल में फँसाता है, और रोचक– क्योंकि इससे उसकी जानकारी का भंडार वृहत् होता है। सभी संकल्पनाओं का अर्थ बताने या उनके भावार्थ का विश्लेषण करने के पीछे दार्शनिक प्रयास निहित होते हैं क्योंकि गहन चिन्तन किये बिना यह कार्य हो ही नहीं सकता। एबेन्स्टीन का यह विचार सराहनीय है कि 'विशेषकर मानवीय ज्ञान की सम्भाव्यता, जो हर दार्शनिक पड़ताल की केन्द्रीय चुनौती है, का आधारभूत राजनीतिक संकल्पनाओं व अभिवृत्तियों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।''[15]

प्रतिमानों (models) व सिद्धान्तों (theories) की तरह संकल्पना राजनीतिक विश्लेषण का यन्त्र है। सामान्यतया संकल्पना किसी वस्तु के बारे में विचार हैं, जिसके द्वारा हम विवाद, विवेचन, समीक्षा, व्याख्या या विश्लेषण करते हैं, जिससे हम किसी यथार्थ का वर्णन करते हैं, उसका समर्थन या खण्डन करते हैं तथा जिससे उस विषय के ज्ञान का विकास होता है। चूँकि राजनीतिक परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं, संकल्पना का भावार्थ भी बदल जाता है। और यदि कोई लेखक अपनी संकल्पना को स्थाई या अपरिवर्तनीय बनाना चाहता है, तो वह मैक्स वेबर की तरह उसे आदर्श स्वरूपों (ideal types) की संज्ञा देता है। किन्तु उसका आलोचक ऐसे प्रयास में खामियाँ भी बता सकता है लेकिन जब कोई संकल्पना किसी विचारधारा से जुड़ जाती है, तब वह निश्चित रूप में गहन विवाद का विषय बन जाती है, जैसा हम स्वतन्त्रता, समानता, लोकतन्त्र, क्रान्ति, न्याय इत्यादि के बारे में देख सकते हैं।

प्रतिमान या सिद्धान्त, संकल्पना से बड़ा होता है, क्योंकि उसके भीतर अनेक संकल्पनाओं का समावेश होता है। यह दूसरी बात है कि कोई प्रतिमान ही संकल्पनात्मक हो। ऐसा करने के पीछे यह प्रयास निहित होता है कि किसी संकल्पना को विश्लेषणात्मक परीक्षण के रूप में इस्तेमाल किया जाये, ताकि तथ्यों की सहायता से उसके जटिल रूप को अभिव्यक्त किया जा सके। कोई लेखक अपनी संकल्पनाओं को प्रतिमान के रूप में भी व्यक्त कर सकता है जैसा हम डेविड ईस्टन की राजनीतिक व्यवस्था के सिद्धान्त के बारे में देख सकते हैं। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि संकल्पनात्मक प्रतिमान उस यथार्थ का सर्वश्रेष्ठ सरलीकरण है, जिसकी वह व्याख्या करना चाहता है। वे मात्र ऐसी विधियाँ हैं, जो जानकारी को बढ़ाती हैं, वे विश्वसनीय ज्ञान नहीं हैं।[16]

यह प्रश्न उठ सकता है कि संकल्पना किसे कहते हैं? शाब्दिक अर्थ में संकल्पना किसी सारगर्भित विचार या अवधारणा को कहते हैं। अध्ययनकर्ता उस पदबन्ध का अर्थ स्पष्ट करता है, और चूँकि अध्ययनकर्ता की व्याख्याओं या उनके विश्लेषणों में अन्तर होता है, इसीलिए समाज विज्ञान की ज्ञान शाखाओं में उसके अभिप्राय में विविधता देखी जा सकती है। किसी का विवरण नकारात्मक है तो किसी का सकारात्मक। उदाहरण के लिए, मिल व हायक प्रतिबन्धों को व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु मानते हैं और इसलिए उनकी न्यूनतम सम्भव संख्या को उचित ठहराते हैं, तो लास्की, बार्कर व हॉबहाउस सामाजिक हित में अनिवार्य प्रतिबन्धों का समर्थन करते हैं। मार्क्स, लेनिन व माओ सर्वहारा के अधिनायकवाद को

सामाजिक व आर्थिक लोकतन्त्र की संज्ञा देते हैं, जबकि पाई, हटिंगन व ऐप्टर इसे राजनीतिक पतन का पर्याय मानते हैं, क्योंकि ऐसा अधिनायकवाद पाश्चात्य लोकतन्त्र की समस्त व्यवस्था को नष्ट कर देता है। ऐसा मतभेद सभी संकल्पनाओं के गहन अध्ययन में देखा जा सकता है।

इस सम्बन्ध में हम इन महत्वपूर्ण बिन्दुओं का अध्ययन न कर सकते हैं।

1. संकल्पना किसी वस्तु के बारे में सामान्य विचार है, जिसे साधारणतया एक शब्द या लघु वाक्य में अभिव्यक्त किया जाता है। अवधारणाएँ ऐसे यन्त्र है, जिनकी सहायता से हम किसी वस्तु के बारे में विचार कर सकते हैं, उसकी आलोचना कर सकते हैं, उस पर विवाद कर सकते हैं, उसकी व्याख्या या उसका विश्लेषण कर सकते हैं। संकल्पनाओं से हमें यह भी सहायता मिलती है कि हम तत्वों का वर्गीकरण करके उनके समान या विभिन्न लक्षणों का वर्णन करें।
2. संकल्पनाओं का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि उनके भीतर महत्वपूर्ण भेद या अन्तर निहित होते हैं, और उनसे उनके बारे में जानकारी विकृत होती है। ऐसा विचारधाराओं के क्षेत्र में गहन विवाद में देखा जा सकता है, क्योंकि किन्हीं शब्दों की वैधता पर एकमतता स्थापित नहीं हो सकती।
3. प्रतिमान व सिद्धान्त, संकल्पनाओं से वृहत होते हैं, क्योंकि उनमें किसी विषय को सविस्तार दर्शाया जाता है। उनमें अनेक संकल्पनाओं का कुंज या जाल देखा जा सकता है। किन्तु कोई संकल्पनात्मक प्रतिमान हो सकता है, जो किसी यथार्थ का सरलीकरण या उसका विश्लेषण प्रस्तुत करता है।
4. संकल्पना का संरचना या रूपतालिका (paradigm) से भेद किया जा सकता है। संरचना का सम्बन्ध सूत्रों व सिद्धान्तों के समुच्चय से है, जो किसी बौद्धिक परीक्षण की प्रक्रिया की रचना में सहायक होते हैं। वास्तव में, संरचना ऐसे ढाँचे का निर्माण करती है, जिसके भीतर ज्ञान की खोज की जाती है।
5. तथापि, वस्तुतः सभी संकल्पनात्मक विधियों, सिद्धान्तों व प्रतिमानों के भीतर मूल्य निहित होते हैं। इसीलिए यह कठिन हो जाता है कि मात्र तथ्यपरक सिद्धान्तों का निर्माण किया जाए, मूल्य व मानपरक आस्थाएँ अनिवार्य रूप में अपना प्रवेश या स्थान बना लेते हैं।

अन्त में, हम यह कह सकते हैं कि राजनीति विज्ञान वह सामाजिक विज्ञान है, जो राज्य, शासन व सत्ता का गहन अध्ययन करता है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है, क्योंकि सत्ता व उसके हेतु संघर्ष स्थानीय निकायों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक व्याप्त है। प्रमुख दार्शनिकों, विचारकों, लेखकों व टीकाकारों ने महत्वपूर्ण पदबन्धों को गढ़ा है, ताकि राजनीतिक यथार्थ का अमूर्त एवं मूर्त रूपों में विश्लेषण किया जा सके। यही कारण है कि इस विषय के मानपरक व तथ्यपरक दोनों आयाम हैं। यह विज्ञान व कला दोनों है, लेकिन इस विषय के अध्ययनकर्ता के समक्ष यह समस्या खड़ी होती है कि वह इतनी विविध संकल्पनाओं के शुद्ध अर्थ को कैसे समझे। वृहत परिप्रेक्ष्य में संकल्पनाएँ, सिद्धान्त, प्रतिमान व रूपतालिकाएँ पर्याय लगती हैं, किन्तु उनके बीच अन्तर की बारीक रेखा देखी जा सकती है। सभी का उद्देश्य वर्णन, विवेचन या विश्लेषण करना है, ताकि विषय की जानकारी को नए तरीकों से विकसित किया जा सके। यही कारण है कि सभी समाज विज्ञानों की तरह, राजनीति विज्ञान में भी विविधता व विवादग्रस्तता भरपूर है। प्राकृतिक विज्ञानों के विद्वान इस विषय को 'विज्ञान' नहीं मानते क्योंकि इसके नियम न

शाश्वत हैं, न अकाट्य। किन्तु फिर भी हम कह सकते हैं कि किसी न किसी सीमा तक राजनीति का अध्ययन वैज्ञानिक है। तथ्यों व मूल्यों में भेद निकालकर राजनीतिक जगत के बार में वस्तुनिष्ठ ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। राजनीति विज्ञान के सैद्धान्तिक रूप का अपना महत्व है और वह इस प्रयोजन को सिद्ध करता है कि सिद्धान्त का आमूल ध्येय किसी न किसी प्रकार से यथार्थ की व्याख्या करना, उसे समझना तथा उसका विश्लेषण करना है।

: REFERENCES :

1. David Easton : 'Political Science' in D.I. Sills (ed.) : Ineternational Encyclopedia of the Social Sciences, Vol. 12,p, 282.
2. David Held : Political Theory and the Modern State, p. 247.
3. J. W. Garner : Poltical Science and Government, pp. 1-2.
4. R.G. Gettell : Poltical Sciences, p. 4.
5. W.W. Wilkoughby : The Nature of the State, p. 382.
6. Held : op. cit, p. 247.
7. Bernard Crick : In Defence of Politics, p. 26.
8. A Gamble : "Theories of British Politics' in Political Studies, Vol. 38, No.3, p.412.
9. A Leftwich : What is Politics, pp. 64-65.
10. C. Anderson : Statecraft : An Introduction to Political Choice and Judgement, p. vii.
11. Andrew Heywood : Politics, p.4.
12. David Held : Political Theory and the Modern State, p. 247.
13. Bertrand Russell : Philiosophy and Politics.
14. William Ebenstein : Modern Political 'Thought, p.3.
15. Heywood : op. eit., pp. 18-21.
16. Gery Stoker : 'Introduction' in his (ed.) : Theory and Methods in Political Science, P. 16.